

Chapter अट्ठाईस

ज्ञान-योग

पिछले अध्यायों में जिस ज्ञानयोग का विस्तार से वर्णन किया जा चुका है उसका सार-संक्षेप इस अध्याय में दिया गया है।

इस ब्रह्माण्ड में प्रत्येक उत्पन्न वस्तु प्रकृति के तीन गुणों की भौतिक उपज है। वह ऐन्द्रिय बोध के अधीन है और अनिवार्यतः असत्य है। वस्तुतः हम इस जगत की विविध वस्तुओं तथा कार्यों को जो “अच्छी” तथा “बुरी” उपाधियाँ देते हैं, वे सतही हैं। इस जगत की किसी वस्तु की प्रशंसा करने या तिरस्कार करने से बचना अच्छा है क्योंकि ऐसा करने से मनुष्य पदार्थ में फँसता है और आध्यात्मिक जीवन के उच्चतर लक्ष्यों से वंचित रह जाता है। इस भौतिक ब्रह्माण्ड की हर वस्तु के भीतर आत्मा छिपा हुआ है, जो व्यक्त जगत के कार्य-कारण दोनों का आधार है। हर व्यक्ति को इसी प्रकाश में वस्तुओं को देखना चाहिए और इस तरह विरक्त भाव से जगत में विचरण करना चाहिए।

जब तक पदार्थ से निर्मित शारीरिक इन्द्रियों तथा सत्य रूप आत्मा के बीच सम्बन्ध बना रहता है,

तब तक मनुष्य झूठी चेतना में बना रहता है। यद्यपि यह संसार मिथ्या है, किन्तु विवेकहीन व्यक्ति जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसे रहते हैं क्योंकि वे इन्द्रियतृप्ति में लीन रहते हैं। भौतिक जीवन की सारी अवस्थाएँ—यथा जन्म, मृत्यु, दुख तथा सुख—आत्मा से सम्बन्धित नहीं होतीं, अपितु भौतिकतावादी मिथ्या अहंकार से सम्बद्ध होती हैं। आत्मा तथा इसके विपरीत पदार्थ में अन्तर करना सीख कर मनुष्य इस मिथ्या पहचान को नष्ट कर सकता है।

इस जगत के आदि में तथा अन्त में एक ही परब्रह्म वर्तमान रहता है। अपनी अन्तरिम अर्थात् पालन की अवस्था में विराट जगत भी उसी परब्रह्म पर आधारित होता है। यह ब्रह्म सर्वत्र विद्यमान रहता है—अपने प्राकट्य से विध्यात्मक रूप में और अपने अलगाव से निषेधात्मक रूप में—आत्माराम होने से ब्रह्म अद्वितीय है, जबकि यह जगत रजोगुण के माध्यम से उत्पन्न ब्रह्म का अंश है।

किन्तु प्रामाणिक गुरु की कृपा से मनुष्य परब्रह्म को समझ सकता है और भौतिक शरीर तथा इसके अंशों के भौतिक स्वभाव को पहचान सकता है। इन्द्रिय-भोग से विलग रह कर वह आत्मानन्द में तुष्ट हो जाता है। जिस तरह सूर्य आने-जाने वाले बादलों से अछूता रहता है, उसी तरह विवेकवान मुक्त पुरुष अपनी इन्द्रियों के कार्यों से अप्रभावित रहता जाता है। इतने पर भी भक्तियोग में पूरी तरह स्थिर न होने तक, इन्द्रिय-विषयों के साथ सम्पर्क रखने से बचना चाहिए। महत्त्वाकांक्षी भक्त को तमाम अवरोधों का सामना करना पड़ सकता है और वह च्युत हो सकता है, किन्तु अगले जन्म में उसकी यह भक्ति, इस जन्म में प्राप्त उपलब्धि के कारण, चलती रहेगी। तब वह फिर कभी कर्म के नियमों से बँधता नहीं। जो व्यक्ति मुक्त है और विवेकवान है, वह इन्द्रियतृप्ति में आसक्त होकर कभी भी मिथ्या भोग की खोज नहीं करेगा। वह जानता है कि आत्मा अपरिवर्तनशील है और शुद्ध आत्मा पर किसी तरह का विरोधी भाव आरोपित करना निरी मूर्खता होगी।

यदि आध्यात्मिक अभ्यास की अपरिपक्व अस्था में कोई शारीरिक रोग हो जाता है या कोई अन्य उत्पात आ खड़ा होता है, तो वेदों का आदेश है कि उसको समूल नष्ट करने के लिए उचित कार्यवाही की जाय। काम तथा मन के अन्य शत्रुओं का नियत इलाज परमेश्वर का ध्यान तथा उनके नामों का जोर-जोर से उच्चारण या *सङ्कीर्तन* है। मिथ्या अहंकार के रोग की दवा है भगवान् के सन्त भक्तों की सेवा।

योगाभ्यास द्वारा कुछ अभक्तगण अपने शरीरों को तरुण तथा स्वस्थ रखते हैं और योग-सिद्धियाँ या दीर्घायु भी पा लेते हैं। किन्तु ये उपलब्धियाँ दो कौनों की नहीं होतीं क्योंकि ये मात्र भौतिक शरीर की सिद्धियाँ होती हैं। इसीलिए बुद्धिमान व्यक्ति इस तरह की विधि में अरुचि दिखाता है। किन्तु भगवान् के चरणकमलों की सच्चे मन से शरण ग्रहण करने से महत्त्वाकांक्षी भक्त समस्त उत्पातों से अपने को बचा लेता है और सर्वोच्च सिद्धि अर्थात् आध्यात्मिक जीवन का पूर्ण आनन्द प्राप्त करने के लिए शक्तिमय हो जाता है।

श्रीभगवानुवाच

परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत् ।

विश्वमेकामकं पश्यन्प्रकृत्या पुरुषेण च ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; पर—पराये का; स्वभाव—स्वभाव; कर्माणि—तथा कर्म; न प्रशंसेत्—प्रशंसा न करे; न गर्हयेत्—आलोचना न करे; विश्वम्—संसार; एक-आत्मकम्—सत्य पर आश्रित; पश्यन्—देखते हुए; प्रकृत्या—प्रकृति के साथ साथ; पुरुषेण—भोक्ता के साथ; च—भी।

भगवान् ने कहा : मनुष्य को चाहिए कि किसी अन्य व्यक्ति के बद्ध स्वभाव तथा कर्मों की न तो प्रशंसा करे, न ही आलोचना। प्रत्युत उसे इस जगत को प्रकृति तथा भोक्ता आत्माओं का संमेल ही मानना चाहिए क्योंकि वे सभी एक परम सत्य पर आश्रित हैं।

तात्पर्य : प्रकृति के गुणों की अन्योन्य क्रिया के अनुसार भौतिक परिस्थितियाँ तथा कर्म सात्विक, राजस तथा तामसिक प्रतीत होते हैं। ये गुण भगवान् की मायाशक्ति द्वारा उत्पन्न होते हैं और यह माया अपने स्वामी भगवान् से भिन्न नहीं है। इसलिए भगवद्भक्त भौतिक प्रकृति की मायावी, क्षणिक अभिव्यक्तियों से अलग रहता है। साथ ही वह भौतिक प्रकृति को भगवान् की शक्ति मान कर उसे मूलतः सत्य मानता है। यहाँ पर बच्चे द्वारा मिट्टी को विभिन्न खिलौनों—यथा बाघ, मनुष्य, घर इत्यादि का स्वरूप देने का दृष्टान्त दिया जा सकता है। खिलौने की मिट्टी सत्य है, जबकि मिट्टी द्वारा धारण किये जाने वाले क्षणिक स्वरूप मायावी हैं; वे असली बाघ, पुरुष या घर नहीं होते। इसी तरह सम्पूर्ण विराट जगत भगवान् के हाथों में मिट्टी के लोंदे के समान है, जो माया के द्वारा माया के सुस्पष्ट क्षणिक स्वरूप बनाता है। जो भगवान् के भक्त नहीं हैं उनका मन इन्हीं में लीन रहता है।

परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति ।

स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनिवेशतः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

पर—दूसरे का; स्वभाव—स्वभाव, व्यक्तित्व; कर्माणि—तथा कार्य; यः—जो; प्रशंसति—प्रशंसा करता है; निन्दति—आलोचना करता है; सः—वह; आशु—तुरन्त; भ्रश्यते—गिरता है; स्व-अर्थात्—अपने हित से; असति—असत्य में; अभिनिवेशतः—पूरी तरह बँध जाने के कारण।

जो भी व्यक्ति दूसरों के गुणों तथा आचरण की प्रशंसा करता है या आलोचना करता है, वह मायामय द्वैतों में फँसने के कारण अपने उत्तमोत्तम हित से शीघ्र विपथ हो जाएगा।

तात्पर्य : बद्धजीव भौतिक प्रकृति पर अपना प्रभुत्व जमाना चाहता है और इस तरह अन्य बद्धजीव की, जिसे वह अपने से घटिया समझता है, आलोचना करता है। इसी तरह वह एक उच्च भौतिकतावादी की प्रशंसा करता है क्योंकि वह उस उच्च पद का इच्छुक रहता है, जिससे वह अन्यों पर प्रभुत्व दिखा सके। अन्य भौतिकतावादी लोगों की प्रशंसा करना तथा आलोचना करना प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अन्य जीवों की ईर्ष्या पर आधारित हैं और ये मनुष्य को स्व-अर्थ—असली आत्महित अर्थात् कृष्णभावनामृत—से नीचे गिराने वाले हैं।

असत्यभिनिवेशतः का अर्थ है “क्षणिक या असत्य में लीन रहने से”। यह शब्द सूचित करता है कि मनुष्य को न तो भौतिक द्वन्द्व का सहारा लेना चाहिए, न ही भौतिकतावादी व्यक्तियों की प्रशंसा या आलोचना करनी चाहिए। प्रत्युत उसे चाहिए कि वह भगवान् के शुद्ध भक्तों की प्रशंसा करे और भगवान् के विरुद्ध विद्रोह की मनोवृत्ति की आलोचना करे जिससे मनुष्य अभक्त बनता है। किसी को निम्न वर्गीय भौतिकतावादी की आलोचना यह सोच कर नहीं करनी चाहिए कि उच्च वर्गीय भौतिकतावादी अच्छा है। दूसरे शब्दों में मनुष्य को चाहिए कि भौतिक तथा आध्यात्मिक का अन्तर समझे और भौतिक स्तर पर अच्छे तथा बुरे के फेर में न पड़े। उदाहरणार्थ, ईमानदार नागरिक नागरिक स्वतंत्रता तथा बन्दी जीवन के अन्तर को समझता है, जबकि मूर्ख कैदी सुविधाजनक तथा असुविधाजनक जेल की कोठरियों का अन्तर जानता है। जिस तरह मुक्त नागरिक के लिए बन्दीगृह की कोई भी अवस्था स्वीकार्य नहीं, उसी तरह मुक्त कृष्णभावनाभावित भक्त के लिए कोई भी भौतिक पद स्वीकार्य नहीं है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर इंगित करते हैं कि बद्धजीवों को उनकी भौतिकतावादी प्रतिष्ठाओं के आधार पर विभेदित करने की बजाय उन्हें भगवन्नाम कीर्तन करने के लिए एक दूसरे के

निकट लाना चाहिए और चैतन्य महाप्रभु के संकीर्तन आन्दोलन का प्रसार करना चाहिए। कोई अभक्त या निम्न कोटि का ईर्ष्यालु भक्त कभी भी लोगों को भगवत्प्रेम के स्तर पर एक करने में रुचि नहीं रखता, अपितु वह साम्यवादी, पूँजीवादी, श्वेत, श्याम, धनी, निर्धन, उदार तथा कट्टर जैसी भौतिक उपाधियों पर बल देकर उन्हें व्यर्थ ही विलग करता रहता है। भौतिक जीवन सदा ही अपूर्ण, अज्ञान से युक्त तथा अन्ततः निराशाजनक होता है। इसलिए अज्ञान के उच्च तथा निम्न स्वरूपों की प्रशंसा तथा आलोचना न करके मनुष्य को चाहिए कि दिव्य सच्चिदानन्द स्तर पर कृष्णभावनामृत में लीन रहे।

तैजसे निद्रयापन्ने पिण्डस्थो नष्टचेतनः ।

मायां प्राप्नोति मृत्युं वा तद्वन्नानार्थदृक्पुमान् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तैजसे—जब इन्द्रियाँ, जो कि रजोगुण में मिथ्या अहंकार से उत्पन्न हैं; निद्रया—नींद से; आपन्ने—परास्त हो जाती हैं; पिण्ड—भौतिक शरीर का कवच; स्थः—स्थित (आत्मा); नष्ट-चेतनः—अपनी चेतना खोकर; मायाम्—स्वप्न देखने का भ्रम; प्राप्नोति—अनुभव करता है; मृत्युम्—मृत्यु जैसी गहरी निद्रावस्था; वा—अथवा; तद्वत्—उसी प्रकार से; नाना-अर्थ—भौतिक विविधताओं के रूप में; दृक्—देखने वाला; पुमान्—मनुष्य।

जिस तरह देहधारी आत्मा की इन्द्रियाँ स्वप्न देखने के भ्रम या मृत्यु जैसी गहरी निद्रावस्था के द्वारा परास्त हो जाती हैं, उसी तरह भौतिक द्वन्द्व का अनुभव करने वाले व्यक्ति को मोह तथा मृत्यु का सामना करना पड़ता है।

तात्पर्य : भौतिक इन्द्रियों को तैजस कहा गया है क्योंकि वे रजोगुण में मिथ्या अहंकार द्वारा उत्पन्न होती हैं। मिथ्या अहंकारवश मनुष्य भगवान् से विहीन भौतिक जगत का स्वप्न देखता है और प्रकृति पर प्रभुत्व दिखाने एवं उसके संसाधनों का दोहन करने के लिए योजनाएँ बनाता है। आधुनिक नास्तिक विज्ञानियों ने इस मिथ्या अहंकार को ललित कला का स्वरूप दे दिया है और वे अपने को बहुत बड़े वीर पुरुष मानते हैं क्योंकि उन्होंने प्रकृति के अवरोधों पर विजय पा ली है और वे अपरिहार्य सर्वज्ञता की ओर अग्रसर हो रहे हैं। ऐसे स्वप्नदर्शी भौतिकतावादी प्रकृति के नियमों की विखंडनकारी प्रतिक्रियाओं से बारम्बार स्तम्भित होते हैं और उनकी उद्धत, नास्तिक सभ्यताएँ, विश्व-युद्ध, प्राकृतिक आपदाओं तथा ब्रह्माण्ड में उग्र परिवर्तनों के द्वारा बारम्बार ध्वस्त होती रहती हैं।

सामान्य स्तर पर सारे बद्धजीव यौन आकर्षण से विमोहित होते हैं और इस तरह भौतिक समाज, मैत्री तथा प्रेम के मोह से बँधे रहते हैं। वे अपने को उस भौतिक प्रकृति का अनन्य भोक्ता मानते हैं, जो

सहसा उनके विपरीत बन जाती है और उन्हें उसी तरह मार डालती है, जिस तरह कि पालतू पशु जब अकस्मात् अपने स्वामी पर झपटता है, तो उसे मार डालता है।

किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत् ।
वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; भद्रम्—अच्छा; किम्—क्या; अभद्रम्—बुरा; वा—अथवा; द्वैतस्य—द्वैत की; अवस्तुनः—वस्तु नहीं है; कियत्—कितना; वाचा—वाणी से; उदितम्—उत्पन्न; तत्—वह; अनृतम्—असत्य; मनसा—मन से; ध्यातम्—ध्यान किया गया; एव—निस्सन्देह; च—तथा।

जो कुछ भौतिक शब्दों से व्यक्त किया जाता है या मन के द्वारा ध्यान किया जाता है, वह परम सत्य नहीं है। अतएव द्वैत के इस असार जगत में, वस्तुतः क्या अच्छा या क्या बुरा है और ऐसे अच्छे तथा बुरे की मात्रा को कैसे मापा जा सकता है ?

तात्पर्य : वास्तविक सत्य तो भगवान् हैं जिनसे हर वस्तु उद्भूत है, जिनसे हर वस्तु पालित है और जिनमें हर वस्तु लीन होती है। भौतिक प्रकृति तो परब्रह्म का प्रतिबिम्ब है और प्रकृति के गुणों की अन्योन्य क्रियाओं से पदार्थ के नाना रूप पृथक् और स्वतंत्र सत्य प्रतीत होते हैं। माया बद्ध आत्मा को परब्रह्म से दूर ले जाती है और उसके मन को पदार्थ के ज्वलन्त स्वरूप में लीन कर देती है, जो अंततः परब्रह्म से अभिन्न है क्योंकि वह उन्हीं से उद्भूत है। भगवान् से पृथक् अच्छे तथा बुरे का भाव अच्छे तथा बुरे स्वप्नों के समान है, जो सोते हुए व्यक्ति को अनुभव होते हैं। अच्छे तथा बुरे स्वप्न समान रूप से असत्य हैं। इसी तरह अच्छे तथा बुरे का भगवान् से पृथक् कोई स्थायी अस्तित्व नहीं है।

भगवान् हर जीव के हितैषी हैं इसलिए उनके आदेश का पालन अच्छा और उनके आदेश का उल्लंघन बुरा है। भगवान् कृष्ण ने पूर्ण वर्णाश्रम धर्म बनाया है और भगवद्गीता तथा अन्य ग्रंथों में पूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान किया है। भगवान् कृष्ण का आदेश पूरा करने से मानव समाज को पूर्ण सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा आध्यात्मिक सफलता प्राप्त होगी। हमें भगवान् के आदेशों के बाहर मूर्खतावश तथाकथित किसी अच्छाई की खोज नहीं करनी चाहिए। ऐसे आदेश ईश्वर के नियम कहलाते हैं और वे धर्म के सार होते हैं।

छायाप्रत्याह्वयाभासा ह्यसन्तोऽप्यर्थकारिणः ।

एवं देहादयो भावा यच्छन्त्यामृत्युतो भयम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

छाया—छायाएँ; प्रत्याह्वय—प्रतिध्वनि; आभासाः—तथा मिथ्या प्राकट्य; हि—निस्सन्देह; असन्तः—अविद्यमान; अपि—यद्यपि; अर्थ—विचार; कारणः—उत्पन्न करने वाले; एवम्—उसी तरह से; देह-आदयः—देह इत्यादि; भावाः—भौतिक संकल्पनाएँ; यच्छन्ति—देते हैं; आ-मृत्युतः—मृत्युपर्यन्त; भयम्—भय।

यद्यपि छायाएँ, प्रतिध्वनियाँ तथा मृगमरीचिकाएँ असली वस्तुओं के भ्रामक प्रतिबिम्ब ही होती हैं, किन्तु ये प्रतिबिम्ब अर्थपूर्ण या ज्ञेय भाव का सादृश्य उत्पन्न करते हैं। इसी तरह यद्यपि शरीर, मन तथा अहंकार के साथ बद्धजीव की पहचान भ्रामक है, किन्तु यह पहचान मृत्यु पर्यन्त उसके भीतर भय उत्पन्न करती रहती है।

तात्पर्य : यद्यपि छायाएँ, प्रतिध्वनियाँ तथा मृगमरीचिकाएँ असली वस्तुओं के प्रतिबिम्ब मात्र होती हैं, किन्तु जो व्यक्ति इन्हें झूठे ही सत्य मानते हैं, वे उन व्यक्तियों में प्रबल उद्वेगों को जन्म देती हैं। उसी तरह बद्धजीव भय, काम, क्रोध तथा आशा जैसे उद्वेगों की पकड़ में आ जाता है क्योंकि वह अपने को भ्रान्त अनुभव के कारण शरीर, मन तथा अहंकार से युक्त मानता है। इस तरह इस व्यावहारिक उदाहरण से यह दिखलाया जाता है कि भ्रामक वस्तुएँ भी अत्यन्त संवेगात्मक प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सकती हैं। अन्ततोगत्वा हमारे संवेगों को भगवान् में, जो कि नित्य सत्य हैं, लीन हो जाना चाहिए। जब कोई भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर लेता है, तो उसका भय सदा सदा के लिए मिट जाता है। तब वह मुक्त जीवन के शुद्ध भावों को भोग सकता है।

आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः ।

त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः ।

तस्मान्न ह्यात्मनोऽन्यस्मादन्यो भावो निरूपितः ॥ ६ ॥

निरूपितेऽयं त्रिविधा निर्मूल भातिरात्मनि ।

इदं गुणमयं विद्धि त्रिविधं मायया कृतम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

आत्मा—परमात्मा; एव—एकमात्र; तत् इदम्—यह; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; सृज्यते—उत्पन्न किया जाता है; सृजति—तथा उत्पन्न करता है; प्रभुः—परमेश्वर; त्रायते—रक्षा किया जाता है; त्राति—रक्षा करता है; विश्व-आत्मा—सारे जगत का आत्मा; ह्रियते—खींच लिया जाता है; हरति—खींच लेता है; ईश्वरः—परम नियन्ता; तस्मात्—उसकी अपेक्षा; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; आत्मनः—आत्मा की तुलना में; अन्यस्मात्—जो स्पष्ट है; अन्यः—अन्य; भावः—जीव; निरूपितः—निश्चित किया जाता है; निरूपिते—इस प्रकार स्थापित हुआ; अयम्—यह; त्रि-विधा—तीन प्रकार का; निर्मूला—आधाररहित; भातिः—स्वरूप; आत्मनि—परमात्मा के भीतर; इदम्—यह; गुण-मयम्—प्रकृति के गुणों से युक्त; विद्धि—जानो; त्रि-विधम्—तीन प्रकार का; मायया—माया द्वारा; कृतम्—उत्पन्न।

एकमात्र परमात्मा ही इस जगत के परम नियन्ता तथा स्रष्टा हैं, अतः अकेले वे भी उत्पन्न

किये हुए हैं। इसी प्रकार जो समस्त जगत का आत्मास्वरूप है, वह पालन भी करता है और पालित भी होता है; हरता है और हरा भी जाता है। यद्यपि परमात्मा हर वस्तु से तथा अन्य हर किसी से पृथक् हैं, किन्तु कोई अन्य जीव उनसे पृथक् रूप में निश्चित नहीं किया जा सकता। तीन प्रकार की प्रकृति के जो उनके भीतर देखी जाती हैं, प्राकट्य का कोई वास्तविक आधार नहीं है। प्रत्युत तुम यह समझ लो कि तीन गुणों वाली यह प्रकृति उनकी मायाशक्ति का ही प्रतिफल है।

तात्पर्य : परब्रह्म श्रीकृष्ण अपनी बहिरंगा शक्ति का विस्तार करके इस भौतिक ब्रह्माण्ड की सृष्टि करते हैं। सूर्य-मण्डल तथा उसके विस्ताररूप किरणों की ही तरह भगवान् तथा उनकी विस्तीर्ण शक्ति एक ही समय एक तथा भिन्न है (अचिन्त्य भेदाभेद)। यद्यपि बद्ध आत्माओं को भौतिक द्वैत प्रकृति के गुणों पर टिका जान पड़ता है, किन्तु समग्र भौतिक अभिव्यक्ति वास्तव में भगवान् से अभिन्न है और अन्ततः एक ही आध्यात्मिक स्वभाव वाली है। प्रकृति के गुण इन्द्रिय-विषयों, देवताओं, मनुष्यों, पशुओं, मित्रों, शत्रुओं इत्यादि को जन्म देते हैं। किन्तु सच्चाई तो यह है कि हर वस्तु भगवान् की शक्ति का ही विस्तार है।

बद्धजीव मूर्खतावश प्रकृति पर प्रभुत्व जमाना चाहता है, किन्तु भगवान् स्वयं ही एकमात्र असली स्वामी हैं क्योंकि वे प्रकृति से अभिन्न हैं। *श्रीमद्भागवत* में कई स्थलों पर मकड़ी द्वारा अपने मुख से जाल फैलाने का वर्णन आया है। इसी तरह भगवान् अपनी शक्ति से भौतिक जगत को उत्पन्न करते हैं, उसका पालन करते हैं और अन्त में अपने में ही उसे लीन कर लेते हैं। यद्यपि भगवान् हर वस्तु और हर व्यक्ति से ऊपर हैं और अद्वितीय हैं, किन्तु वे साथ ही हर वस्तु से अभिन्न हैं, जिस बात का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। अतएव जब भगवान् सृजन करते हैं, तो वे स्वयं प्रकट होते हैं; जब वे पालन करते हैं, तो स्वयं उन्हीं का पालन होता है और संहार के समय भगवान् ही लीन होते हैं।

यद्यपि भगवान् अपने आध्यात्मिक धाम तथा अपनी भौतिक सृष्टि इन दोनों से अभिन्न हैं, तो भी उनका आध्यात्मिक धाम वैकुण्ठ सदैव भौतिक जगत से श्रेष्ठ बना रहता है। यद्यपि पदार्थ तथा आत्मा दोनों ही भगवान् की शक्तियाँ हैं, तो भी आध्यात्मिक शक्ति आनन्द तथा ज्ञान के नित्य रूपों में ढल जाती है, जबकि पदार्थ के क्षणिक रूप बद्धजीव के लिए अज्ञान तथा हताशा के प्रतीक होते हैं, जो उसे

ललचाते रहते हैं। भगवान् स्वयं ही समस्त आनन्द के आगार हैं अतएव अपने भक्तों के प्रिय हैं। हमारी यह कल्पना कि भगवान् हमें पूर्ण आनन्द नहीं दे सकते इस बात पर आधारित है कि हम उनकी प्रकृति के गुणों की उपज के रूप में गलत पहचान करते हैं। फलस्वरूप हम माया के घातक आलिंगन में मिथ्या सुख के पीछे भागते हैं और इस तरह हम कृष्ण के साथ अपने प्रेममय शाश्वत सम्बन्ध से विपथ हो जाते हैं।

एतद्विद्वान्मदुदितं ज्ञानविज्ञाननैपुणम् ।

न निन्दति न च स्तौति लोके चरति सूर्यवत् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; विद्वान्—जानने वाला; मत्—मेरे द्वारा; उदितम्—वर्णित; ज्ञान—ज्ञान; विज्ञान—तथा अनुभूति में; नैपुणम्—स्थिर हुआ; न निन्दति—आलोचना नहीं करता; न च—न तो; स्तौति—प्रशंसा करता है; लोके—जगत में; चरति—विचरण करता है; सूर्य-वत्—सूर्य की तरह।

जिसने मेरे द्वारा यहाँ पर वर्णित सैद्धान्तिक तथा अनुभूत ज्ञान में स्थिर होने की विधि को भलीभाँति समझ लिया है, वह भौतिक निन्दा या स्तुति में रत नहीं होता। वह इस जगत में सूर्य की तरह सर्वत्र स्वतंत्र होकर विचरण करता है।

तात्पर्य : हर जीव भगवान् से उद्भूत है, अतएव वह स्वभावतः अनुभूत ज्ञान (विज्ञान) से पूर्ण होता है। किन्तु जब कोई व्यक्ति अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए भौतिक अच्छाई तथा बुराई की प्रशंसा या निन्दा करने लगता है, तो उसका भगवद्ज्ञान प्रच्छन्न हो जाता है। शुद्ध भक्त को चाहिए कि भौतिक माया के किसी भी पक्ष से न तो प्रेम दिखाये न घृणा व्यक्त करे, प्रत्युत गुरु के निर्देशन में कृष्ण की सेवा के लिए जो अनुकूल हो उसे स्वीकारे और जो प्रतिकूल हो, उसका त्याग करे।

प्रत्यक्षेणानुमानेन निगमेनात्मसंविदा ।

आद्यन्तवदसञ्ज्ञात्वा निःसङ्गे विचरेदिह ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

प्रत्यक्षण—प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा; अनुमानेन—तार्किक आगम द्वारा; निगमेन—शास्त्र के कथनों द्वारा; आत्म-संविदा—अपनी स्वयं की अनुभूति से; आदि-अन्त-वत्—आदि तथा अन्त से युक्त; असत्—असत्य; ज्ञात्वा—जान कर; निःसङ्गः—आसक्ति से रहित; विचरेत्—इधर-उधर आये-जाये; इह—इस संसार में।

प्रत्यक्ष अनुभूति, तर्कसंगत निगमन, शास्त्रोक्त प्रमाण तथा आत्म अनुभूति द्वारा मनुष्य को यह जान लेना चाहिए कि इस जगत का आदि तथा अन्त है, अतएव यह परम सत्य नहीं है। इस

तरह मनुष्य को निर्लिप्त होकर इस जगत में रहना चाहिए।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार दो मुख्य भौतिक द्वैत हैं। पहला द्वैत है कि मनुष्य भौतिक अच्छा तथा बुरा, सुन्दर तथा कुरूप, धनी तथा निर्धन आदि देखता है। दूसरा है कि मनुष्य सम्पूर्ण जगत को भगवान् से पृथक् अथवा स्वतंत्र देखता है। पहला द्वैत विपर्ययों का है, जो समय के प्रभाव से विलय को प्राप्त होता है और दूसरा द्वैत विलगाव का है, जो केवल सम्मोहन है। जो व्यक्ति इस जगत के क्षणिक मायामय स्वभाव के प्रति पूर्णरूपेण आश्वस्त होता है, वह निर्लिप्त होकर मुक्तभाव से विचरण करता है। ऐसा व्यक्ति भगवान् की सभी प्रकार की भक्तियों में प्रवृत्त होते हुए भी, कभी फँसता नहीं और आध्यात्मिक चेतना में सदैव उत्फुल्ल तथा प्रसन्न रहता है।

श्रीउद्धव उवाच

नैवात्मनो न देहस्य संसृतिर्द्रष्टृदृश्ययोः ।

अनात्मस्वदृशोरीश कस्य स्यादुपलभ्यते ॥ १० ॥

शब्दार्थ

श्री-उद्धवः उवाच—श्री उद्धव ने कहा; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; आत्मनः—आत्मा का; न—न तो; देहस्य—शरीर का; संसृतिः—संसार; द्रष्टृ-दृश्ययोः—देखने वाले अथवा देखे गये का; अनात्म—जो आत्मा नहीं है; स्व-दृशोः—या उसका जिसको अन्तर्ज्ञान है; ईश—हे भगवान्; कस्य—किसका; स्यात्—हो सकता है; उपलभ्यते—अनुभव किया जाता है।

श्री उद्धव ने कहा : हे भगवन्, इस भौतिक जगत के लिए यह सम्भव नहीं कि वह द्रष्टारूपी आत्मा का अनुभव हो या दृश्यरूपी शरीर का अनुभव हो। एक ओर जहाँ आत्मा स्वाभाविक तौर पर, पूर्ण ज्ञान से समन्वित होता है, वहीं दूसरी ओर भौतिक शरीर चेतन जीव नहीं है। तो फिर जगत का यह अनुभव किससे सम्बद्ध है?

तात्पर्य : चूँकि जीव शुद्ध आत्मा है, जो स्वभाव से पूर्ण ज्ञान तथा आनन्द से पूरित है और चूँकि भौतिक शरीर जैव रासायनिक मशीन (यंत्र) है, जो ज्ञान या निजी चेतना से विहीन है, तो फिर इस जगत के अज्ञान तथा चिन्ता को कौन अनुभव कर रहा होता है? भौतिक जीवन के चेतन अनुभव से इनकार नहीं किया जा सकता, इसलिए उद्धवजी भगवान् कृष्ण से यह प्रश्न उस विधि को अच्छी तरह से समझने के लिए कर रहे हैं जिससे मोह उत्पन्न होता है।

आत्माव्ययोऽगुणः शुद्धः स्वयंज्योतिरनावृतः ।

अग्निवद्दारुवदचिदेहः कस्येह संसृतिः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

आत्मा—आत्मा; अव्ययः—न चुकने वाला; अगुणः—गुणों से परे; शुद्धः—शुद्ध; स्वयम्-ज्योतिः—आत्म-प्रकाशित; अनावृतः—खुला; अग्नि-वत्—अग्नि की तरह; दारु-वत्—काष्ठ की तरह; अचित्—अचेतन; देहः—शरीर; कस्य—किसका; इह—इस जगत में; संसृतिः—भौतिक जीवन का अनुभव।

आत्मा अव्यय, दिव्य, शुद्ध, आत्म-प्रकाशित तथा किसी भौतिक वस्तु से कभी न ढका जाने वाला है। यह अग्नि के समान है। किन्तु अचेतन शरीर, काष्ठ की तरह मन्द है और अनभिज्ञ है। अतएव इस जगत में वह कौन है, जो वास्तव में भौतिक जीवन का अनुभव करता है?

तात्पर्य : यहाँ पर अनावृतः तथा दारुवत् शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। अग्नि कभी अंधकार से आवृत नहीं हो सकती क्योंकि अग्नि का स्वभाव ही प्रकाश करना है। इसी तरह आत्मा स्वयंज्योतिः अर्थात् आत्म-प्रकाशित है। इस तरह आत्मा दिव्य है—इसे भौतिक जीवनरूपी अंधकार कभी भी आवृत नहीं कर सकता। दूसरी ओर, भौतिक शरीर, जो कि काष्ठ की तरह है, स्वभाव से मन्द तथा प्रकाश रहित होता है। इसे अपने आप में जीवन की कोई भिन्नता नहीं रहती। यदि आत्मा भौतिक जीवन से परे है और भौतिक शरीर को अपना चेत भी नहीं है, तो प्रश्न उठता है : भौतिक जगत विषयक हमारा अनुभव वस्तुतः किस तरह होता है ?

श्रीभगवानुवाच

यावद्देहेन्द्रियप्राणैरात्मनः सन्निकर्षणम् ।

संसारः फलवांस्तावदपार्थोऽप्यविवेकिनः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; यावत्—जब तक; देह—शरीर; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; प्राणैः—तथा प्राण के द्वारा; आत्मनः—आत्मा का; सन्निकर्षणम्—आकर्षण; संसारः—भौतिक जगत; फल-वान्—फल से युक्त; तावत्—उस अवधि तक; अपार्थः—अर्थहीन; अपि—यद्यपि; अविवेकिनः—विवेकहीन व्यक्ति के लिए।

भगवान् ने कहा : जब तक मूर्ख आत्मा भौतिक शरीर, इन्द्रियों तथा प्राण के प्रति आकृष्ट रहता है, तब तक उसका भौतिक अस्तित्व विकसित होता रहता है यद्यपि अन्ततोगत्वा यह अर्थहीन होता है।

तात्पर्य : यहाँ पर सन्निकर्षण शब्द सूचित करता है कि शुद्ध आत्मा स्वेच्छा से अपने को भौतिक शरीर से यह सोचते हुए जोड़ लेता है कि यह सबसे फलप्रद व्यवस्था है। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि यह स्थिति अपार्थ अर्थात् व्यर्थ होती है जब तक मनुष्य अपने देहधारी पद को भगवान् की

प्रेमाभक्ति में नहीं लगाता। उस समय मनुष्य का सम्बन्ध भगवान् कृष्ण से होता है, शरीर से नहीं, जो मनुष्य के उच्चतर उद्देश्य को पूरा करने का यंत्र मात्र बन जाता है।

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।

ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

अर्थ—असली कारण; हि—निश्चय ही; अविद्यमाने—अनुपस्थित; अपि—यद्यपि; संसृतिः—भौतिक जगत; न—नहीं; निवर्तते—मिट जाता है; ध्यायतः—ध्यान करते हुए; विषयान्—इन्द्रिय-विषयों का; अस्य—जीव का; स्वप्ने—स्वप्न में; अनर्थ—हानियों का; आगमः—आना; यथा—जिस तरह।

वस्तुतः जीव भौतिक जगत से परे है। किन्तु भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व दिखाने की मनोवृत्ति के कारण, उसका भौतिक अस्तित्व मिटता नहीं और वह सभी प्रकार की हानियों से प्रभावित होता है, जिस तरह स्वप्न में घटित होता है।

तात्पर्य : यह श्लोक तथा अन्य ऐसे ही श्लोक श्रीमद्भागवत में अन्यत्र आये हैं—यथा ३.२७.४, ४.२९.३५, ७३ तथा ११.२२.५६। वास्तव में, यह श्लोक माया के सार को पूरी तरह बतलाने वाला है।

यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत् ।

स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; हि—निस्सन्देह; अप्रतिबुद्धस्य—जो नहीं जगा हुआ है उसके लिए; प्रस्वापः—नींद; बहु—अनेक; अनर्थ—अवांछित अनुभव; भृत्—प्रस्तुत करते हुए; सः—वही स्वप्न; एव—निस्सन्देह; प्रतिबुद्धस्य—जगे हुए के लिए; न—नहीं; वै—निश्चय ही; मोहाय—संशय; कल्पते—उत्पन्न करता है।

यद्यपि स्वप्न देखते समय मनुष्य को अनेक अवांछित वस्तुओं का अनुभव होता है, किन्तु जग जाने पर वह स्वप्न के अनुभवों से तनिक भी उद्विग्न नहीं होता।

तात्पर्य : मुक्त आत्मा को भी इस जगत में रहते हुए भौतिक वस्तुओं का अवलोकन करना चाहिए। किन्तु कृष्णभावनामृत के प्रति जागरूक होने के कारण, वह समझता है कि इन्द्रिय-सुख तथा दुख स्वप्न की तरह अर्थहीन होते हैं। इस तरह मुक्तात्मा मोह से कभी ग्रस्त नहीं होता।

शोकहर्षभयक्रोधलोभमोहस्पृहादयः ।

अहङ्कारस्य दृश्यन्ते जन्ममृत्युश्च नात्मनः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

शोक—शोक; हर्ष—हर्ष; भय—डर; क्रोध—क्रोध; लोभ—लालच; मोह—संशय; स्पृहा—लालसा; आदयः—इत्यादि; अहङ्कारस्य—मिथ्या अहंकार के; दृश्यन्ते—वे प्रतीत होते हैं; जन्म—जन्म; मृत्युः—मृत्यु; च—तथा; न—नहीं; आत्मनः—आत्मा का।

शोक, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ, मोह, लालसा, जन्म तथा मृत्यु मिथ्या अहंकार के अनुभव हैं, शुद्ध आत्मा के नहीं।

तात्पर्य : मिथ्या अहंकार सूक्ष्म भौतिक मन तथा स्थूल भौतिक शरीर के साथ शुद्ध आत्मा की मोहमयी पहचान है। इस मोहमयी पहचान के फलस्वरूप, बद्धात्मा खोई वस्तुओं के लिए शोक, प्राप्त हुई वस्तुओं पर हर्ष, अशुभ वस्तुओं पर भय, अपनी इच्छाओं की विफलता पर क्रोध और इन्द्रियतृप्ति के लिए लोभ का अनुभव करता है। इसलिए ऐसे झूठे आकर्षणों तथा विकर्षणों से मोहग्रस्त बद्धजीव को अन्य शरीर स्वीकार करने पड़ते हैं जिसका अर्थ है उसे बारम्बार जन्म तथा मृत्यु में से निकलना पड़ता है। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति जानता है कि ऐसी संसारी भावनाओं का शुद्ध आत्मा से कोई सरोकार नहीं होता क्योंकि शुद्ध आत्मा की स्वाभाविक मनोवृत्ति भगवान् की प्रेमाभक्ति में अपने को लगाना है।

देहेन्द्रियप्राणमनोऽभिमानो

जीवोऽन्तरात्मा गुणकर्ममूर्तिः ।

सूत्रं महानित्युरुधेव गीतः

संसार आधावति कालतन्त्रः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

देह—शरीर; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; प्राण—जीवन-वायु; मनः—तथा मन से; अभिमानः—जो झूठे ही अपनी पहचान बनाता है; जीवः—जीव; अन्तः—भीतर स्थित; आत्मा—आत्मा; गुण—अपने भौतिक गुण; कर्म—तथा कर्म के अनुसार; मूर्तिः—उसके स्वरूप की कल्पना करते हुए; सूत्रम्—सूत्र तत्त्व; महान्—प्रकृति का आदि रूप; इति—इस प्रकार; उरुधा—भिन्न भिन्न तरीकों से; इव—निस्सन्देह; गीतः—वर्णित; संसारे—भौतिक जीवन में; आधावति—इधर-उधर दौड़ता है; काल—समय के; तन्त्रः—कठोर नियंत्रण में।

जो जीव अपनी पहचान गलती से अपने शरीर, इन्द्रियों, प्राण तथा मन से करता है और जो इन आवरणों के भीतर रहता है, वह अपने ही बद्ध भौतिक गुणों तथा कर्म का रूप धारण करता है। वह समग्र भौतिक भक्ति के सापेक्ष विविध उपाधियाँ ग्रहण करता है और इस तरह, परम काल के कठोर नियंत्रण में, संसार के भीतर इधर-उधर दौने के लिए बाध्य होता है।

तात्पर्य : मिथ्या अहंकार जो जीव को संसार का कष्ट भोगने के लिए बाध्य करता है, यहाँ पर भौतिक शरीर, इन्द्रियों, प्राण तथा मन के साथ मोहमयी पहचान के रूप में विस्तार से वर्णित हुआ है। काल शब्द प्रत्यक्ष रूप से भगवान् का द्योतक है, जो बद्धात्माओं पर सीमित कालखंडों को आरोपित

करता है और उन्हें प्रकृति के नियमों में कस कर बाँध रखता है। मोक्ष कोई निर्विशेष अनुभव नहीं है; मोक्ष तो मनुष्य के नित्य शरीर, इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि की भगवान् से संगति है। हम अपने नित्यमुक्त व्यक्तित्व को मिथ्या अहंकार के कल्मष से मुक्त, कृष्णभावनामृत में भगवान् की सेवा में अपने को अर्पित करके पुनः जागृत कर सकते हैं। जब शुद्ध आत्मा मिथ्या अहंकार को स्वीकार करता है, तो उसे भौतिक कष्ट उठाने पड़ते हैं। शुद्ध कृष्णभावनामृत में अपने आपको भगवान् कृष्ण का नित्य दास स्वीकार करने पर, मिथ्या अहंकार को स्वतः जीता जा सकता है।

अमूलमेतद्बहुरूपरूपितं

मनोवचःप्राणशरीरकर्म ।

ज्ञानासिनोपासनया शितेन-

च्छित्त्वा मुनिर्गा विचरत्यतृष्णः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

अमूलम्—नीवरहित; एतत्—यह (मिथ्या अहंकार); बहु-रूप—नाना रूपों में; रूपितम्—सुनिश्चित; मनः—मन; वचः—वाणी; प्राण—जीवन-वायु; शरीर—तथा स्थूल शरीर का; कर्म—कार्य; ज्ञान—दिव्य ज्ञान की; असिना—तलवार से; उपासनया—(गुरु की) उपासना से; शितेन—तीक्ष्ण की हुई; छित्त्वा—काट कर; मुनिः—गम्भीर साधु; गाम्—इस पृथ्वी पर; विचरति—विचरण करता है; अतृष्णः—भौतिक इच्छाओं से मुक्त।

यद्यपि मिथ्या अहंकार का कोई यथार्थ आधार नहीं है, किन्तु यह अनेक रूपों में देखा जाता है—यथा मन, वाणी, प्राण तथा शरीर के कार्यों के रूप में। किन्तु प्रामाणिक गुरु की उपासना के द्वारा तेज की हुई दिव्य ज्ञानरूपी तलवार से, गम्भीर साधु इस मिथ्या पहचान को काट देता है और इस जगत में समस्त भौतिक आसक्ति से मुक्त होकर निवास करता है।

तात्पर्य : बहु-रूप-रूपितम् “अनेक रूपों में लक्षित” से यह भी सूचित होता है कि मिथ्या अहंकार इस विश्वास में भी प्रकट होता है कि कोई व्यक्ति देवता, महापुरुष, सुन्दर महिला, दुखियारा श्रमिक, बाघ, पक्षी, कीड़ा इत्यादि है। मिथ्या अहंकारवश, शुद्ध आत्मा किसी भौतिक आवरण को अपना चरम आत्मा मान लेता है किन्तु ऐसी अज्ञानता को इस श्लोक में वर्णित विधि द्वारा दूर किया जा सकता है।

ज्ञानं विवेको निगमस्तपश्च

प्रत्यक्षमैतिह्यमथानुमानम् ।

आद्यन्तयोरस्य यदेव केवलं

कालश्च हेतुश्च तदेव मध्ये ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ज्ञानम्—दिव्य ज्ञान; विवेकः—विवेक; निगमः—शास्त्र; तपः—तपस्या; च—तथा; प्रत्यक्षम्—प्रत्यक्ष अनुभूति; ऐतिह्यम्—पुराणों का ऐतिहासिक विवरण; अथ—तथा; अनुमानम्—तर्क; आदि—प्रारम्भ में; अन्तयोः—तथा अन्त में; अस्य—इस सृष्टि के; यत्—जो; एव—निस्सन्देह; केवलम्—अकेला; कालः—काल का नियामक कारक; च—तथा; हेतुः—चरम कारण; च—तथा; तत्—वह; एव—अकेला; मध्ये—बीचमें।

असली आध्यात्मिक ज्ञान तो आत्मा और पदार्थ के विवेक पर आधारित है और इसका अनुशीलन शास्त्रों के प्रमाण, तपस्या, प्रत्यक्ष अनुभूति, पुराणों के ऐतिहासिक वृत्तान्तों के संग्रहण तथा तार्किक निष्कर्षों द्वारा किया जाता है। परब्रह्म जो अकेला इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि के पूर्व विद्यमान था और जो इसके संहार के बाद भी बचा रहेगा, वही काल तथा परम कारण भी है। इस सृष्टि के मध्य में भी एकमात्र परब्रह्म वास्तविक सत्य है।

तात्पर्य : भौतिक विज्ञानी तथा दार्शनिक उस चरम भौतिक कारण या सिद्धान्त की खोज में बुरी तरह से लगे हुए हैं जिसे यहाँ पर काल कहा गया है। कार्य-कारण की भौतिक विधि कालक्रम में घटित होती है। दूसरे शब्दों में, काल भौतिक कार्य-कारण के लिए प्रेरक होता है। यह काल परमात्मा की अभिव्यक्ति है, जो विराट जगत में व्याप्त है और उसे सहारा देता है। यहाँ पर ज्ञान प्राप्त करने की विधि का वैज्ञानिक ढंग से वर्णन हुआ है और जो गम्भीर विद्वान हैं, वे यहाँ पर भगवान् द्वारा उद्धाटित दिव्य ज्ञान-शास्त्र का लाभ उठायेंगे।

यथा हिरण्यं स्वकृतं पुरस्तात्

पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्यमयस्य ।

तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं

नानापदेशैरहमस्य तद्वत् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; हिरण्यम्—स्वर्ण; सु-अकृतम्—बनी वस्तु के रूप में अप्रकट; पुरस्तात्—इसके पूर्व; पश्चात्—बाद में; च—तथा; सर्वस्य—हर वस्तु का; हिरण्य-मयस्य—सोने से बनी; तत्—वह सोना; एव—एकमात्र; मध्ये—बीच में; व्यवहार्यमाणम्—उपयोग में लाने पर; नाना—विविध; अपदेशैः—उपाधियों के रूप में; अहम्—मैं; अस्य—इस उत्पन्न ब्रह्माण्ड का; तद्वत्—उसी तरह से।

जिस तरह सोने की वस्तुएँ तैयार होने के पूर्व, एकमात्र सोना रहता है और जब ये वस्तुएँ नष्ट हो जाती हैं, तो भी एकमात्र सोना बचा रहता है और जब विविध नामों से व्यवहार में लाये जाने पर भी एकमात्र सोना ही अनिवार्य सत्य होता है, उसी तरह इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि के पूर्व, इसके

संहार के बाद और इसके अस्तित्व के समय केवल मैं विद्यमान रहता हूँ।

तात्पर्य : सोने से अनेक तरह के आभूषण, सिक्के तथा अन्य विलासपूर्ण वस्तुएँ बनाई जाती हैं। किन्तु प्रत्येक अवस्था पर—बनाने के पूर्व, बनाते समय, व्यवहार के समय तथा उसके बाद—अनिवार्य सत्य सोना ही होता है। इसी तरह से भगवान् अनिवार्य सत्य हैं—वे हर वस्तु के गतिमान तथा घटक कारण के रूप में हैं। भौतिक सृष्टि के समय भगवान् अपनी शक्ति को केवल गति प्रदान करते हैं, जो उनसे भिन्न नहीं है।

विज्ञानमेतत्त्रियवस्थमङ्ग

गुणत्रयं कारणकार्यकर्तृ ।

समन्वयेन व्यतिरेकतश्च

येनैव तुर्येण तदेव सत्यम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

विज्ञानम्—(मन जिसका लक्षण है) पूर्ण ज्ञान; एतत्—यह; त्रि-अवस्थम्—तीन अवस्थाओं (जाग्रत, सुप्ति, सुषुप्ति) में विद्यमान; अङ्ग—हे प्रिय उद्भव; गुण-त्रयम्—तीन गुणों के माध्यम से प्रकट; कारण—सूक्ष्म कारण के रूप में (अध्यात्म); कार्य—स्थूल उत्पाद (अधिभूत); कर्तृ—तथा करने वाला (आधिदैव); समन्वयेन—एक के बाद एक-एक में; व्यतिरेकतः—पृथक् रूप में; च—तथा; येन—जिससे; एव—निस्सन्देह; तुर्येण—चौथा कारण; तत्—वह; एव—ही; सत्यम्—परब्रह्म है।

भौतिक मन चेतना की तीन अवस्थाओं—जाग्रत, सुप्ति तथा सुषुप्ति—में प्रकट होता है, जो प्रकृति के तीन गुणों से उत्पन्न हैं। फिर मन तीन भिन्न भिन्न भूमिकाओं में—द्रष्टा, दृश्य तथा अनुभूति के नियामक रूप में—प्रकट होता है। इस तरह मन तीनों उपाधियों में लगातार विविध प्रकारों से प्रकट होता है। किन्तु इन सबों से भिन्न एक चौथा तत्त्व भी विद्यमान रहता है और वही परब्रह्म होता है।

तात्पर्य : कठ उपनिषद् (२.२.१५) में कहा गया है—*तमेव भान्तमनुभाति सर्वं/तस्य भासा सर्वमिदं विभाति*—उनकी मूल ज्योति के बल पर हर वस्तु अपना प्रकाश फैलाती है और उनका प्रकाश इस ब्रह्माण्ड की हर वस्तु को प्रकाशित करता है। इस तरह अनुभूति, ज्ञान तथा संवेदनशीलता की पूरी परिधि भगवान् की अनुभूति, ज्ञान तथा संवेदनशीलता का तुच्छ विस्तार है।

न यत्पुरस्तादुत यन्न पश्चा-

न्मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम् ।

भूतं प्रसिद्धं च परेण यद्यत्

तदेव तत्स्यादिति मे मनीषा ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं है; यत्—जो; पुरस्तात्—इससे पहिले; उत—न तो; यत्—जो; न—नहीं; पश्चात्—बाद में; मध्ये—बीच में; च—तथा; तत्—वह; न—नहीं विद्यमान रहता; व्यपदेश-मात्रम्—उपाधि मात्र; भूतम्—उत्पन्न; प्रसिद्धम्—विख्यात बनाया गया; च—तथा; परेण—दूसरे के द्वारा; यत् यत्—जो जो; तत्—वह; एव—केवल; तत्—वह अन्य; स्यात्—वास्तव में है; इति—इस प्रकार; मे—मेरा; मनीषा—विचार, मत।

जो भूतकाल में विद्यमान नहीं था और भविष्य में भी विद्यमान नहीं रहेगा, उसका उसकी पूरी अवधि में कोई अस्तित्व नहीं होता; वह केवल ऊपरी उपाधि होता है। मेरे मत में जो कुछ उत्पन्न किया जाता है तथा किसी अन्य वस्तु से उद्धाटित किया जाता है, वही अन्ततः एकमात्र अन्य वस्तु होता है।

तात्पर्य : यद्यपि सारी भौतिक वस्तुएँ, यथा हमारे शरीर, नश्वर हैं और इस तरह मिथ्या हैं, किन्तु यह भौतिक जगत भगवान् की शक्ति की असली अभिव्यक्ति होता है। इस जगत की मूल वस्तु या यथार्थता तो स्वयं भगवान् हैं जबकि बद्धजीवों द्वारा आरोपित नश्वर उपाधियाँ मोह (माया) हैं। इस तरह हम अपने आपको अमरीकी, रूसी, अंग्रेज, जर्मन, भारतीय, श्याम, श्वेत, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई इत्यादि मानते हैं। वस्तुतः हम भगवान् की तटस्था शक्ति हैं किन्तु भगवान् की अपरा भौतिक शक्ति का विदोहन करने के प्रयास के फलस्वरूप, माया में फँस गये हैं। हर वस्तु को भगवान् के परिप्रेक्ष्य में परिभाषित किया जाना चाहिए क्योंकि वे ही इस तथा अन्य सारे जगतों के अनिवार्य सत्य हैं।

अविद्यमानोऽप्यवभासते यो

वैकारिको राजससर्ग एसः ।

ब्रह्म स्वयं ज्योतिरतो विभाति

ब्रह्मेन्द्रियार्थात्मविकारचित्रम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अविद्यमानः—वास्तव में विद्यमान न होते हुए; अपि—यद्यपि; अवभासते—प्रतीत होता है; यः—जो; वैकारिकः—विकारों की अभिव्यक्ति; राजस—रजोगुण का; सर्गः—सृजन; एषः—यह; ब्रह्म—परब्रह्म; स्वयम्—अपने में स्थित; ज्योतिः—प्रकाशवान्; अतः—इसलिए; विभाति—प्रकट होता है; ब्रह्म—परब्रह्म; इन्द्रिय—इन्द्रियों का; अर्थ—विषय; आत्म—मन; विकार—तथा पाँच तत्त्वों के रूपान्तरों का; चित्रम्—विविधता के रूप में।

वास्तव में विद्यमान न होते हुए भी, रजोगुण से उत्पन्न रूपान्तरों की यह अभिव्यक्ति सत्य प्रतीत होती है क्योंकि स्वयं-व्यक्त, स्वयं-प्रकाशित परब्रह्म अपने को नाना प्रकार की इन्द्रियों, इन्द्रिय-विषयों, मन तथा शरीर के तत्त्वों के रूप में प्रकट करता है।

तात्पर्य : समग्र भौतिक प्रकृति अर्थात् प्रधान मूलतः अभिन्न तथा जड़ है किन्तु बाद में इसमें विकार आ जाते हैं जब भगवान् अपने काल अभिकर्ता के माध्यम से इस पर दृष्टिपात करते हैं और रजोगुण को जागृत करते हैं। इस तरह भौतिक रूपान्तर होता है और भगवान् की अपरा शक्ति के रूप में प्रकट होता है। इसके विपरीत, भगवान् के निजी धाम में नित्य वैविध्य रहता है, जो परब्रह्म का आत्म-प्रकाशित आन्तरिक ऐश्वर्य है और भौतिक सृजन, रूपान्तर या संहार के अधीन नहीं है। इस तरह भौतिक जगत एक ही समय परब्रह्म से अभेद तथा पृथक् है।

एवं स्फुटं ब्रह्मविवेकहेतुभिः

परापवादेन विशारदेन ।

छित्त्वात्मसन्देहमुपारमेत

स्वानन्दतुष्टोऽखिलकामुकेभ्यः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; स्फुटम्—स्पष्टतः; ब्रह्म—परब्रह्म का; विवेक-हेतुभिः—विवेक तथा तर्कों द्वारा; पर—अन्य धारणाओं से गलत पहचान का; अपवादेन—निषेध द्वारा; विशारदेन—पटु; छित्त्वा—काट कर; आत्म—आत्मा की पहचान के बारे में; सन्देहम्—सन्देह को; उपारमेत—बचे; स्व-आनन्द—अपने दिव्य आनन्द में; तुष्टः—सन्तुष्ट; अखिल—समस्त; कामुकेभ्यः—काम-वासना वाली वस्तुओं से।

इस तरह विवेकशील तर्क द्वारा परब्रह्म की अनन्य स्थिति को अच्छी तरह समझ करके मनुष्य को चाहिए कि पदार्थ से अपनी गलत पहचान का कुशलतापूर्वक निषेध करे और आत्मा की पहचान विषयक सारे संशयों को छिन्न-भिन्न कर डाले। आत्मा के स्वाभाविक आनन्द से तुष्ट होते हुए मनुष्य को भौतिक इन्द्रियों के काम-वासनामय कार्यों से दूर रहना चाहिए।

नात्मा वपुः पार्थिवमिन्द्रियाणि

देवा ह्यसुर्वायुर्जलम्हुताशः ।

मनोऽन्नमात्रं धिषणा च सत्त्व-

महद्भ्रूतिः खं क्षितिरर्थसाम्यम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; आत्मा—आत्मा; वपुः—शरीर; पार्थिवम्—पृथ्वी से बना; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; देवाः—अधिष्ठाता देवता; हि—निस्सन्देह; असुः—प्राण-वायु; वायुः—बाह्य वायु; जलम्—पानी; हुत-आशः—अग्नि; मनः—मन; अन्न-मात्रम्—केवल पदार्थ होने से; धिषणा—बुद्धि; च—तथा; सत्त्वम्—भौतिक चेतना; महद्भ्रूतिः—मिथ्या अहंकार; खम्—आकाश; क्षितिः—पृथ्वी; अर्थ—इन्द्रिय अनुभूति के विषय; साम्यम्—प्रकृति की आदि अभिन्न अवस्था।

पृथ्वी से बना भौतिक शरीर असली आत्मा नहीं है, न ही इन्द्रियाँ, उनके अधिष्ठातृ देवता या प्राण-वायु; न बाह्य वायु, जल, अथवा अग्नि या मन ही हैं। ये सब पदार्थ हैं। इसी तरह न तो

मनुष्य की बुद्धि, न भौतिक चेतना, न अहंकार, न ही आकाश या पृथ्वी के तत्त्व, न ही इन्द्रिय अनुभूति के विषय, न भौतिक साम्य की आदि अवस्था ही को आत्मा की वास्तविक पहचान माना जा सकता है।

समाहितैः कः करणैर्गुणात्मभि-
 गुणो भवेन्मत्सुविविक्तधाम्नः ।
 विक्षिप्यमाणैरुत किं नु दूषणं
 घनैरुपेतैर्विगतै रवेः किम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

समाहितैः—ध्यान में पूरी तरह एकाग्र; कः—क्या; करणैः—इन्द्रियों द्वारा; गुण-आत्मभिः—जो गुणों की अभिव्यक्तियाँ हैं; गुणः—गुण; भवेत्—होगा; मत्—मेरा; सु-विविक्त—जिसने अच्छी तरह निश्चित कर लिया है; धाम्नः—पहचान; विक्षिप्यमाणैः—जिन्हें विक्षुब्ध किया जा रहा है; उत—दूसरी ओर; किम्—क्या; नु—निस्सन्देह; दूषणम्—कलंक; घनैः—बादलों द्वारा; उपेतैः—आये हुए; विगतैः—अथवा जो जा चुके हैं; रवेः—सूर्य का; किम्—क्या।

जिसने मेरी पहचान भगवान् के रूप में कर ली है, उसके लिए इसमें क्या श्रेय रखा है यदि उसकी इन्द्रियाँ, जो गुणों से उत्पन्न हैं, ध्यान में पूरी तरह एकाग्र हों? दूसरी ओर, इसमें कौन-सा कलंक लगता है यदि उसकी इन्द्रियाँ चलायमान होती हैं? निस्सन्देह, इससे सूर्य का क्या बनता-बिगड़ता है यदि बादल आते और जाते हैं?

तात्पर्य : भगवान् का शुद्ध भक्त नित्य ही मुक्त होता है क्योंकि वह भगवान् के दिव्य पुरुषत्व एवं धाम को भलीभाँति समझे रहता है और इस जगत में भगवान् के मिशन की सेवा में सदैव लगा रहता है। यद्यपि भगवान् के मिशन में लगे रहते हुए, वह भौतिक जगत की घटनाओं से चलायमान प्रतीत होता है किन्तु इससे उसके भगवान् के नित्य सेवक होने पर कोई आँच नहीं आती जिस तरह सूर्य के उच्च पद में कोई परिवर्तन नहीं आता चाहे वह बाह्य रूप में बादलों द्वारा ढका हो।

यथा नभो वाय्वनलाम्बुभूगुणै-
 र्गतागतैर्वर्तुगुणैर्न सज्जते ।
 तथाक्षरं सत्त्वरजस्तमोमलै-
 रहंमतेः संसृतिहेतुभिः परम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; नभः—आकाश; वायु—वायु; अनल—अग्नि; अम्बु—जल; भू—तथा पृथ्वी के; गुणैः—गुणों से; गत-आगतैः—आने-जाने वाले; वा—अथवा; ऋतु-गुणैः—ऋतुओं (यथा शीत, ग्रीष्म इत्यादि) के गुणों द्वारा; न सज्जते—नहीं

बँधता; तथा—उसी तरह; अक्षरम्—परब्रह्म; सत्त्व-रजः-तमः—सतो, रजो तथा तमोगुणों के; मलैः—दूषण द्वारा; अहम्-मतेः—मिथ्या अहंकार की भावना का; संसृति-हेतुभिः—जगत के कारणों द्वारा; परम्—परम।

आकाश अपने में से होकर गुजरने वाली वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी के विविध गुणों को और उसी के साथ उष्मा तथा शीत के गुणों को भी प्रदर्शित कर सकता है, जो ऋतुओं के अनुसार निरन्तर आते-जाते रहते हैं। फिर भी, आकाश कभी भी इन गुणों से बँधता नहीं। इसी प्रकार परब्रह्म सतो, रजो तथा तमोगुणों के दूषणों से कभी बँधता नहीं क्योंकि ये मिथ्या अहंकार का भौतिक विकार उत्पन्न करने वाले हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर अहं-मतेः शब्द उस बद्धजीव का द्योतन करता है, जो किसी विशेष शरीर के मिथ्या अहंकार के साथ प्रकट होता है। इसके विपरीत, भगवान् प्रकृति के गुणों से अप्रभावित रहते हैं और इस तरह वे न तो भौतिक शरीर से कभी आवृत होते हैं और न ही मिथ्या अहंकार के वशीभूत होते हैं। जैसाकि यहाँ पर वर्णन हुआ है, भगवान् नित्य अच्युत तथा शुद्ध हैं।

तथापि सङ्गः परिवर्जनीयो

गुणेषु मायारचितेषु तावत् ।

मद्भक्तियोगेन दृढेन यावद्

रजो निरस्येत मनःकषायः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

तथा अपि—तिस पर भी; सङ्गः—संगति; परिवर्जनीयः—बहिष्कार कर देनी चाहिए; गुणेषु—गुणों से; माया-रचितेषु—मायाशक्ति द्वारा उत्पन्न; तावत्—तब तक; मत्-भक्ति-योगेन—मेरी भक्ति द्वारा; दृढेन—दृढ़; यावत्—जब तक; रजः—वासनामय आकर्षण; निरस्येत—दूर हो जाय; मनः—मन की; कषायः—गर्द, धूल।

तिस पर भी मनुष्य जब तक दृढ़तापूर्वक मेरी भक्ति का अभ्यास करके अपने मन से भौतिक काम-वासना के कल्मष को पूरी तरह निकाल नहीं फेंकता है, तब तक उसे इन भौतिक गुणों की संगति करने में सावधानी बरतनी चाहिए जो मेरी मायाशक्ति द्वारा उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में तथापि शब्द यह सूचित करता है कि यद्यपि प्रकृति भगवान् से अभिन्न है (जैसाकि इस अध्याय में विस्तार से वर्णित है), किन्तु जिसे अब भी भौतिक इच्छा पर विजय पानी है उसे भौतिक वस्तुओं को भगवान् से अभिन्न घोषित करते हुए कृत्रिम रूप से उनकी संगति नहीं करनी चाहिए। इस तरह कृष्णभावनाभावित होने के इच्छुक व्यक्ति को स्त्रियों की बिना रोक-टोक संगति, यह दावा करते हुए कि वे भगवान् से अभिन्न हैं, नहीं करनी चाहिए क्योंकि इस तरह उच्चतम भक्त की

नकल करने से वह इन्द्रिय भोक्ता बन जायेगा। जो नवदीक्षित भक्त अपने को मुक्त समझ लेता है, वह रजोगुण से प्रेरित होकर अपने पद पर गर्व करने लगता है और इस तरह वह भगवान् की असली भक्ति की प्रक्रिया की उपेक्षा करने लगता है। मनुष्य को उच्च अधिकारियों के निर्देशन में भगवान् की भक्ति में दृढ़ तथा स्थायी होना चाहिए। तभी कृष्णभावनामृत में प्रगति कर पाना आसान तथा सफल होगा।

यथामयोऽसाधु चिकित्सितो नृणां

पुनः पुनः सन्तुदति प्ररोहन् ।

एवं मनोऽपक्वकषायकर्म

कुयोगिनं विध्यति सर्वसङ्गम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; आमयः—रोग; असाधु—अपूर्ण रूप से; चिकित्सितः—उपचार किया गया; नृणाम्—मनुष्यों के; पुनः—बारम्बार; सन्तुदति—दुख देता है; प्ररोहन्—ऊपर उठते हुए; एवम्—उसी तरह; मनः—मन; अपक्व—अशुद्ध; कषाय—दूषण का; कर्म—कर्मों से; कु-योगिनम्—अपूर्ण योगी; विध्यति—तंग करता है; सर्व-सङ्गम्—जो सभी तरह की भौतिक आसक्तियों से पूर्ण है।

जिस तरह ठीक से उपचार न होने पर रोग फिर से लौट आता है और रोगी को बारम्बार कष्ट देता है, उसी तरह यदि मन को विकृत प्रवृत्तियों से पूरी तरह शुद्ध नहीं कर लिया जाता, तो वह भौतिक वस्तुओं में लिप्त रहने लगता है और अपूर्ण योगी को बारम्बार तंग करता रहता है।

तात्पर्य : सर्व-संगम् मनुष्य के तथाकथित भोग की वस्तुओं से यथा सन्तान, स्त्री, धन, राष्ट्र तथा मित्रों के साथ बुरी तरह आसक्ति होने का द्योतक है। जो व्यक्ति सन्तान, स्त्री इत्यादि के साथ अपनी आसक्ति बढ़ा लेता है, वह भगवान् कृष्ण की भक्ति करते हुए भी या तो कुयोगी समझा जाता है जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है या मोहग्रस्त नौसिखिया होता है, जो अपने हृदय के रोग का, जिसे भौतिक आसक्ति कहते हैं, ठीक से उपचार करने में असफल रहा है। यदि वह बारम्बार भौतिक आसक्ति में गिरता रहता है, तो वह अपने हृदय से अज्ञान के अंधकार को दूर करने में असफल रहा है।

कुयोगिनो ये विहितान्तरायै-

मनुष्यभूतैस्त्रिदशोपसृष्टैः ।

ते प्राक्तनाभ्यासबलेन भूयो

युञ्जन्ति योगं न तु कर्मतन्त्रम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

कु-योगिनः—योगाभ्यासी जिसका ज्ञान अपूर्ण है; ये—जो; विहित—आरोपित; अन्तरायैः—बाधाओं द्वारा; मनुष्य-भूतैः—मनुष्यों (उनके सम्बन्धियों, शिष्यों इत्यादि) के रूप में; त्रिदश—देवताओं द्वारा; उपसृष्टैः—भेजे गये; ते—वे; प्राक्तन—पूर्वजन्म का; अभ्यास—संचित अभ्यास के; बलेन—बल पर; भूयः—एक बार फिर; युञ्जन्ति—प्रवृत्त होते हैं; योगम्—योग में; न—कभी नहीं; तु—किन्तु; कर्म-तन्त्रम्—सकाम कर्म का पाश ।

कभी कभी अपूर्ण योगी की उन्नति पारिवारिक सदस्यों, शिष्यों अथवा अन्यो के प्रति आसक्ति के कारण रुक जाती है क्योंकि ऐसे लोग इसी प्रयोजन से ईर्ष्यालु देवताओं द्वारा भेजे जाते हैं। किन्तु अपनी संचित उन्नति के बल पर ऐसे अपूर्ण योगी अगले जन्म में अपना योगाभ्यास फिर चालू कर देते हैं। वे फिर कभी सकाम कर्म के जाल में नहीं फँसते।

तात्पर्य : कभी कभी संन्यासी तथा अन्य आध्यात्मिक गुरुजन उन चापलूस अनुयायियों तथा शिष्यों द्वारा विमोहित कर लिए जाते हैं, जिन्हें देवतागण अपूर्ण ज्ञान वाले आध्यात्मिक नेताओं को दुचित्ता बनाने के लिए भेजते हैं। इसी तरह कभी कभी अपने ही पारिवारिक सम्बन्धियों के प्रति आसक्ति से आध्यात्मिक उन्नति अवरुद्ध हो जाती है। भले ही अपूर्ण योगी इस जीवन में अपने योगाभ्यास से च्युत हो जाय, किन्तु वह अपने संचित गुण के बल पर अगले जीवन में उस पद को पुनः प्राप्त कर लेगा जैसाकि *भगवद्गीता* में बतलाया गया है। *न तु कर्म-तन्त्रम्* शब्द यह इंगित करते हैं कि च्युत योगी को सकाम कर्म की निम्न अवस्थाओं से होकर नहीं गुजरना होता और क्रमशः योगाभ्यास में नहीं लगना पड़ता। प्रत्युत वह जहाँ पर अपने योगाभ्यास को छोड़े रहता है, वहीं से पुनः उसे चालू कर देता है। निस्सन्देह, यहाँ पर दी गई सुविधा के बल पर च्युत होने की कल्पना नहीं करनी चाहिए, अपितु इसी जीवन में पूर्ण बनने का प्रयास करना चाहिए। विशेष रूप से संन्यासियों को अपने हृदय से विषय-वासना की हृदय-ग्रंथि दूर करनी चाहिए और चापलूस अनुयायियों या शिष्याओं के चंगुल से बचना चाहिए क्योंकि ये लोग देवताओं द्वारा उस तथाकथित आध्यात्मिक नेता का पर्दाफाश करने के लिए भेजे जाते हैं, जो कृष्णभावनाभावित ज्ञान में अधूरा होता है।

करोति कर्म क्रियते च जन्तुः

केनाप्यसौ चोदित आनिपतात् ।

न तत्र विद्वान्प्रकृतौ स्थितोऽपि

निवृत्ततृष्णाः स्वसुखानुभूत्या ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

करोति—करता है; कर्म—भौतिक कार्य; क्रियते—कराया जाता है; च—भी; जन्तुः—जीव; केन अपि—किसी न किसी शक्ति के द्वारा; असौ—वह; चोदितः—प्रेरित; आ-निपातात्—मृत्युपर्यन्त; न—नहीं; तत्र—वहाँ; विद्वान्—चतुर व्यक्ति; प्रकृतौ—प्रकृति में; स्थितः—स्थित; अपि—भी; निवृत्त—त्यागने के बाद; तृष्णाः—भौतिक इच्छा से; स्व—अपनी; सुख—सुख का; अनुभूत्या—अनुभव।

सामान्य जीव भौतिक कर्म करता है और ऐसे कर्म के फल से रूपान्तरित हो जाता है। इस तरह वह विविध इच्छाओं से प्रेरित होकर अपनी मृत्यु तक सकाम कर्म करता रहता है। किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति अपने स्वाभाविक आनन्द का अनुभव किये रहने से, सारी भौतिक इच्छाओं को त्याग देता है और सकाम कर्म में प्रवृत्त नहीं होता।

तात्पर्य : स्त्री के साथ यौन संसर्ग के कारण मनुष्य बारम्बार स्त्री का भोग करना चाहता है और मृत्यु के समय तक वह कामुक बना रहता है। इसी तरह, परिवार तथा मित्रों की संगति से भौतिक आसक्ति की गाँठ अत्यन्त कड़ी पड़ जाती है। इस तरह सकाम कर्म के फल मनुष्य को भौतिक पराजय के चक्र में अधिकाधिक बाँधते जाते हैं। किन्तु अपने हृदय के भीतर भगवान् से सम्पर्क बनाये रखने वाला विद्वान व्यक्ति भौतिक कर्म की चरम निराशा तथा अपने पापकर्मों के कारण अगले जीवन में सुअरी या कुतिया के गर्भ में प्रवेश करने के खतरे से परिचित रहता है। जो व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त है, वह अपने को जगत का भोक्ता नहीं मानता, प्रत्युत सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को भगवान् की शक्ति का नगण्य विस्तार मात्र और अपने को तो भगवान् का विनीत सेवक मानता है।

तिष्ठन्तमासीनमुत व्रजन्तं

शयानमुक्षन्तमदन्तमन्नम् ।

स्वभावमन्यत्किमपीहमान-

मात्मानमात्मस्थमतिर्न वेद ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तिष्ठन्तम्—खड़े खड़े; आसीनम्—बैठे हुए; उत—अथवा; व्रजन्तम्—विचरण करते हुए; शयानम्—लेटे हुए; उक्षन्तम्—मूत्र त्याग करते हुए; अदन्तम्—खाते हुए; अन्नम्—भोजन; स्व-भावम्—उसके बद्ध स्वभाव से प्रकट; अन्यत्—दूसरा; किम् अपि—जो भी; ईहमानम्—सम्पन्न करते हुए; आत्मानम्—अपने शरीर को; आत्म-स्थ—सच्चे आत्मा में स्थित; मतिः—चेतना; न वेद—नहीं पहचानता।

बुद्धिमान व्यक्ति, जिसकी चेतना आत्मा में स्थित है, अपनी शारीरिक क्रियाओं पर भी ध्यान नहीं दे पाता। खड़े, बैठे, चलते, लेटे, मूत्र त्याग करते, भोजन करते या अन्य शारीरिक कार्य करते हुए भी, वह समझता है कि शरीर अपने स्वभाव के अनुसार कार्य करता है।

यदि स्म पश्यत्यसदिन्द्रियार्थं
 नानानुमानेन विरुद्धमन्यत् ।
 न मन्यते वस्तुतया मनीषी
 स्वाप्नं यथोत्थाय तिरोदधानम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; स्म—कभी; पश्यति—देखता है; असत्—अशुद्ध; इन्द्रिय-अर्थम्—इन्द्रिय-विषयों को; नाना—द्वैत पर आधारित होने से; अनुमानेन—तर्क द्वारा; विरुद्धम्—विरोध किया हुआ; अन्यत्—वास्तविकता से भिन्न; न मन्यते—नहीं मानता; वस्तुतया—असली के रूप में; मनीषी—बुद्धिमान मनुष्य; स्वाप्नम्—स्वप्न का; यथा—जिस तरह, मानो; उत्थाय—जग कर; तिरोदधानम्—जो तिरोधान होने की विधि है।

यद्यपि स्वरूपसिद्ध आत्मा कभी कभी अशुद्ध वस्तु या कर्म को देख सकता है, किन्तु वह इसे सत्य नहीं मानता। अशुद्ध इन्द्रिय-विषयों को तर्क द्वारा मायावी भौतिक द्वैत पर आधारित समझ कर, बुद्धिमान व्यक्ति उन्हें सत्य से सर्वथा विपरीत और पृथक् मानता है, जिस तरह निद्रा से जगा हुआ मनुष्य अपने अस्पष्ट स्वप्न को देखता है।

तात्पर्य : विज्ञ पुरुष स्वप्न के अनुभव तथा अपने असली जीवन में स्पष्ट भेद कर सकता है। इसी तरह मनीषी या विद्वान व्यक्ति दूषित इन्द्रिय-विषयों को भगवान् की मायाशक्ति की सृष्टियों के स्पष्ट रूप में देखता है, वास्तविक सत्य के रूप में नहीं। स्वरूपसिद्ध बुद्धि की यह व्यावहारिक परीक्षा है।

पूर्वं गृहीतं गुणकर्मचित्र-
 मज्ञानमात्मन्यविविक्तमङ्ग ।
 निवर्तते तत्पुनरीक्षयैव
 न गृह्यते नापि विसृज्य आत्मा ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

पूर्वम्—इसके पहले; गृहीतम्—स्वीकृत; गुण—गुणों के; कर्म—कर्मों के द्वारा; चित्रम्—विविधतापूर्ण; अज्ञानम्—अज्ञान; आत्मनि—आत्मा पर; अविविक्तम्—अभिन्न रूप में आरोपित; अङ्ग—हे उद्धव; निवर्तते—बन्द कर देता है; तत्—वह; पुनः—फिर; ईक्षया—ज्ञान द्वारा; एव—ही; न गृह्यते—स्वीकार नहीं किया जाता; न—नहीं; अपि—निस्सन्देह; विसृज्य—तिरस्कार करके; आत्मा—आत्मा।

भौतिक अविद्या को, जो प्राकृतिक गुणों के कार्यों द्वारा नाना रूपों में विस्तार पाती है, बद्धजीव गलती से आत्मा मान बैठता है। किन्तु हे उद्धव, आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन से यही अविद्या मोक्ष के समय समाप्त हो जाती है। दूसरी ओर, नित्य आत्मा न तो कभी ग्रहण किया जा सकता है और न ही त्यागा जा सकता है।

तात्पर्य : यहाँ इस बात पर बल दिया गया है कि नित्य आत्मा न तो कभी ग्रहण किया जाता है या भौतिक उपाधि की तरह आरोपित होता है, न ही इसे कभी त्यागा जा सकता है। जैसाकि भगवद्गीता

में कहा गया है, आत्मा शाश्वत रूप से वही रहता है और उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता। किन्तु प्रकृति के गुण मनुष्य के पूर्वकर्म के अनुसार स्थूल भौतिक शरीर तथा सूक्ष्म मन की रचना करते हैं और ये स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर आत्मा पर लाद दिये जाते हैं। इस तरह जीव न तो आत्मा का ग्रहण करता है न बहिष्कार कर सकता है, जो शाश्वत तथ्य है। उसे तो चाहिए कि, यहाँ इंगित किए अनुसार, आध्यात्मिक ज्ञान का अनुशीलन करते हुए, भौतिक चेतना की स्थूल अज्ञानता को त्याग दे।

यथा हि भानोरुदयो नृचक्षुषां
तमो निहन्यान्न तु सद्बिधत्ते ।
एवं समीक्षा निपुणा सती मे
हन्यात्तमिस्त्रं पुरुषस्य बुद्धेः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; हि—निस्सन्देह; भानोः—सूर्य का; उदयः—उदय होना; नृ—मनुष्य की; चक्षुषाम्—आँखों के; तमः—अंधकार; निहन्यात्—नष्ट कर देता है; न—नहीं; तु—लेकिन; सत्—विद्यमान वस्तुएँ; विधत्ते—उत्पन्न करता है; एवम्—उसी तरह; समीक्षा—पूर्ण अनुभूति; निपुणा—निपुण; सती—असली; मे—मेरा; हन्यात्—नष्ट करता है; तमिस्त्रम्—अंधकार को; पुरुषस्य—मनुष्य के; बुद्धेः—बुद्धि में।

जब सूर्य उदय होता है, तो वह मनुष्यों की आँखों को ढकने वाले अंधकार को नष्ट कर देता है, किन्तु वह उन वस्तुओं को उत्पन्न नहीं करता जिन्हें मनुष्य अपने समक्ष देखते हैं क्योंकि वे तो पहले से वहीं पर थीं। इसी तरह मेरी शक्तिशाली तथा यथार्थ अनुभूति मनुष्य की असली चेतना को ढकने वाले अंधकार को नष्ट कर देगी।

एष स्वयंज्योतिरजोऽप्रमेयो
महानुभूतिः सकलानुभूतिः ।
एकोऽद्वितीयो वचसां विरामे
येनेषिता वागसवश्चरन्ति ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह (परमात्मा); स्वयम्-ज्योतिः—आत्म-प्रकाशित; अजः—अजन्मा; अप्रमेयः—माप पाना असम्भव; महा-अनुभूतिः—दिव्य चेतना से पूरित; सकल-अनुभूतिः—हर वस्तु से ज्ञात; एकः—एक; अद्वितीयः—अद्वितीय; वचसाम् विरामे—जब वाणी विराम ले लेती (तभी अनुभूति होती है); येन—जिसके द्वारा; ईषिताः—प्रेरित; वाक्—वाणी; असवः—तथा प्राण; चरन्ति—गति करते हैं।

परमेश्वर स्वतः प्रकाशित, अजन्मा तथा अप्रमेय हैं। वे शुद्ध दिव्य चेतना हैं और हर वस्तु का अनुभव करते हैं। वे अद्वितीय हैं और जब सामान्य शब्द काम करना बन्द कर देते हैं, तभी उनकी अनुभूति होती है। उनके द्वारा वाक्शक्ति तथा प्राणों को गति प्राप्त होती है।

तात्पर्य : परमेश्वर आत्म-प्रकाशित, आत्म अभिव्यक्त हैं जबकि व्यष्टि जीव उन्हीं के द्वारा प्रकट होता है। भगवान् अजन्मा हैं किन्तु जीव भौतिक उपाधियों के आवरणों के कारण बद्ध जीवन में जन्म लेता है। सर्वव्याप्त होने के कारण भगवान् अप्रमेय हैं जबकि जीव एक ही स्थान तक सीमित है। भगवान् महानुभूति हैं जबकि जीव चेतना की क्षुद्र स्फुलिंग होता है। भगवान् सकलानुभूति अर्थात् सर्वज्ञ हैं, किन्तु जीव के पास उसका सीमित अनुभव होता है। भगवान् एक हैं जबकि जीव असंख्य हैं। भगवान् तथा अपने में इन असमानताओं पर विचार करते हुए हमें उन मूर्ख विज्ञानियों तथा दार्शनिकों की तरह अपना समय व्यर्थ में नहीं गँवाना चाहिए जो अपनी तुच्छ मानसिक कल्पना एवं शब्दों की जादूगरी के द्वारा विश्व के उद्गम को ढूँढने के लिए संघर्ष करते रहते हैं। यद्यपि भौतिक शोध-कार्य द्वारा भौतिक प्रकृति के कुछ स्थूल नियमों का पता लगाया जा सकता है, किन्तु ऐसे तुच्छ प्रयासों से परब्रह्म प्राप्त करने की आशा नहीं करनी चाहिए।

एतावानात्मसम्मोहो यद्विकल्पस्तु केवले ।

आत्मनृते स्वमात्मानमवलम्बो न यस्य हि ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

एतावान्—जो भी; आत्म—आत्मा का; सम्मोहः—संशय; यत्—जो; विकल्पः—द्वैतभाव; तु—लेकिन; केवले—अद्वितीय; आत्मन्—आत्मा में; तै—रहित; स्वम्—वही; आत्मानम्—आत्मा; अवलम्बः—सहारा; न—नहीं है; यस्य—जिस (द्वैत) का; हि—निस्सन्देह।

आत्मा में जो भी ऊपरी द्वैत अनुभव किया जाता है, वह केवल मन का संशय होता है।

निस्सन्देह, अपने ही आत्मा से पृथक् ऐसे कल्पित द्वैत के ठहर पाने का कोई आधार नहीं है।

तात्पर्य : जैसाकि श्लोक ३३ में बतलाया जा चुका है, शाश्वत आत्मा न तो ग्रहण किया जाता है, न लुप्त होता है क्योंकि हर जीव एक नित्य सत्य है। विकल्प या द्वैत इस झूठे विचार का द्योतन करता है कि आत्मा अंशतः स्थूल शरीर या सूक्ष्म मन के रूप में पदार्थ से निर्मित है। इसीलिए मूर्ख व्यक्ति भौतिक शरीर या मन को आत्मा का मूलभूत घटक मानते हैं। वस्तुतः जीव शुद्ध आत्मा है, जिसमें पदार्थ का लेश भी नहीं रहता। फलस्वरूप मिथ्या अहंकार जो कि पदार्थ के साथ झूठी पहचान से उत्पन्न होता है, भ्रामक पहचान है, जो शुद्ध आत्मा पर आरोपित की जाती है। अहं का भाव, अर्थात् अपनी व्यक्तिगत पहचान का भाव आत्मा से आता है क्योंकि ऐसी आत्म-जागरूकता के लिए अन्य कोई सम्भव आधार नहीं है। मनुष्य अपने अहंकार के झूठे भाव का अध्ययन करके, यह समझ सकता

है कि शुद्ध अहंकार भी है, जिसे अहं ब्रह्मास्मि शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाता है। इसी तरह यह भी समझा जा सकता है कि परम आत्मा अर्थात् भगवान् है, जो हर वस्तु का सर्वज्ञ नियन्ता है। कृष्णभावनामृत में ऐसी समझ पूर्ण ज्ञान को जन्म देती है जैसाकि यहाँ भगवान् द्वारा बतलाया गया है।

यन्नामाकृतिभिर्ग्राह्यं पञ्चवर्णमबाधितम् ।

व्यर्थेनाप्यर्थवादोऽयं द्वयं पण्डितमानिनाम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; नाम—नामों; आकृतिभिः—तथा स्वरूपों द्वारा; ग्राह्यम्—अनुभूत; पञ्च-वर्णम्—पाँच भौतिक तत्त्वों वाला; अबाधितम्—जिससे इंकार नहीं किया जा सके; व्यर्थेन—व्यर्थ; अपि—निस्सन्देह; अर्थ-वादः—काल्पनिक व्याख्या; अयम्—यह; द्वयम्—द्वैत; पण्डित-मानिनाम्—तथाकथित पण्डितों का।

पाँच भौतिक तत्त्वों का द्वैत केवल नामों और रूपों में ही देखा जाता है। जो लोग कहते हैं कि यह द्वैत असली है, वे छद्म पण्डित हैं और वस्तुतः बिना आधार के व्यर्थ ही तरह-तरह के सिद्धान्त प्रस्तावित करते रहते हैं।

तात्पर्य : भौतिक नामों तथा रूपों का सृजन और विनाश होता रहता है। इनका कोई स्थायी अस्तित्व नहीं होता; अतएव वे सत्य के अनिवार्य मूलभूत सिद्धान्तों का निर्माण नहीं करते। भौतिक जगत ईश्वर की शक्ति के विविध रूपान्तरों से बना हुआ है। यद्यपि ईश्वर सत्य है और उनकी शक्ति सत्य है, किन्तु ऐसे रूपों तथा नामों की जो क्षणिक रूप से अथवा संयोगवश प्रकट होते हैं, कोई वास्तविकता नहीं होती। निपट अज्ञानता तो तब उत्पन्न होती है जब बद्धजीव अपने को भौतिक या पदार्थ तथा आत्मा का मिश्रण मान बैठता है। कुछ दार्शनिक तर्क करते हैं कि नित्य आत्मा पदार्थ के सम्पर्क में स्थायी रीति से रूपान्तरित हो जाता है और मिथ्या अहंकार आत्मा की नवीन तथा स्थायी वास्तविकता का प्रतिनिधित्व करता है। श्रील जीव गोस्वामी उत्तर देते हैं कि आत्मा भगवान् की चेतन पराशक्ति है, जबकि पदार्थ भगवान् की निकृष्ट अचेतन शक्ति है। इस तरह इन दोनों शक्तियों में विपरीत गुण पाये जाते हैं जिस तरह प्रकाश तथा अंधकार में होते हैं। इसलिए श्रेष्ठ जीव तथा निम्न पदार्थ संभवतः एक ही जगत में लीन नहीं हो सकते क्योंकि उनमें नित्य विपरीत तथा बेमेल गुण पाये जाते हैं। पदार्थ तथा आत्मा के मिश्रण का व्यामोह मोह कहलाता है। यह मिथ्या अहंकार के रूप में विशेषकर प्रकट होता है, जो माया द्वारा निर्मित विशेष भौतिक शरीर या मन के साथ अपनी पहचान बनाता है। स्पष्ट है कि जो विज्ञानी या दार्शनिक निपट अज्ञान में डूबे हुए हैं, वे असली विज्ञानी तथा

दार्शनिक नहीं हो सकते। आध्यात्मिक आत्म-जागरूकता की सरल कसौटी पर कसने से दुर्भाग्यवश आधुनिक तथाकथित विज्ञानियों तथा दार्शनिकों का बहुत बड़ा प्रतिशत छँट जाता है, जो व्यर्थ ही भगवान् में किसी प्रकार के ज्ञान अथवा रुचि के बिना, उनकी भौतिक शक्ति में अपनी टाँग अड़ाते हैं।

योगिनोऽपक्वयोगस्य युञ्जतः काय उत्थितैः ।
उपसर्गैर्विहन्येत तत्रायं विहितो विधिः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

योगिनः—योगी का; अपक्व-योगस्य—योगाभ्यास में कच्चा; युञ्जतः—जुड़ने के लिए प्रयत्नशील; कायः—शरीर; उत्थितैः—उठे हुए; उपसर्गैः—उत्पातों से; विहन्येत—विचलित हो सकता है; तत्र—उस सम्बन्ध में; अयम्—यह; विहितः—संस्तुत; विधिः—विधि।

अपने अभ्यास में अभी तक परिपक्व न होने वाले प्रयत्नशील योगी का शरीर कभी कभी विविध उत्पातों की चपेट में आ सकता है। अतएव निम्नलिखित विधि संस्तुत की जाती है।

तात्पर्य : ज्ञान के अनुशीलन की विधि का वर्णन कर चुकने के बाद, अब भगवान् उस योगी को आदेश दे रहे हैं जिसका शरीर रोग या अन्य व्यवधानों के कारण विचलित हो जाता है। जो कनिष्ठ योगी शरीर तथा शारीरिक आसनों के प्रति आसक्त रहते हैं, प्रायः अपने साक्षात्कार में अधूरे होते हैं, अतः भगवान् उनकी कुछ सहायता करना चाहते हैं।

योगधारणया कांश्चिदासनैर्धारणान्वितैः ।
तपोमन्त्रौषधैः कांश्चिदुपसर्गान्विनिर्दहेत् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

योग-धारणया—योग के ध्यान से; कांश्चित्—कुछ उत्पात; आसनैः—नियत आसनों से; धारणा-अन्वितैः—नियंत्रित प्राणायाम पर ध्यान के समेत; तपः—विशेष तपस्या; मन्त्र—जादुई उच्चार; औषधैः—तथा जड़ी-बूटियों द्वारा; कांश्चित्—कुछ; उपसर्गान्—व्यवधान; विनिर्दहेत्—समूल नष्ट किये जा सकते हैं।

इनमें से कुछ व्यवधानों को योगिक ध्यान द्वारा या शारीरिक आसनों के द्वारा, जिनका अभ्यास प्राणायाम में एकाग्रता के साथ साथ किया जाता है, दूर किया जा सकता है और अन्य व्यवधानों को विशेष तपस्या, मंत्रों या जड़ी-बूटियों से बनी ओषधियों द्वारा दूर किया जा सकता है।

कांश्चिन्ममानुध्यानेन नामसङ्कीर्तनादिभिः ।
योगेश्वरानुवृत्त्या वा हन्यादशुभदान्शनैः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

कांश्चित्—कुछ; मम—मेरा; अनुध्यानेन—निरन्तर ध्यान से; नाम—पवित्र नामों का; सङ्कीर्तन—जोर से उच्चारण करके; आदिभिः—इत्यादि से; योग-ईश्वर—योग के महान् स्वामियों का; अनुवृत्त्या—अनुसरण करके; वा—अथवा; हन्यात्—नष्ट कर दिया जा सकता है; अशुभ-दान्—अशुभ परिस्थिति उत्पन्न करने वाले (व्यवधान); शनैः—धीरे धीरे।

इन अशुभ उत्पातों को मेरा स्मरण करके, मेरे नामों का सामूहिक श्रवण और कीर्तन करके या योग के महान् स्वामियों के पदचिन्हों पर चल कर धीरे धीरे दूर किया जा सकता है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार परमेश्वर का ध्यान करने से काम तथा अन्य मानसिक विक्षोभों से छुटकारा पाया जा सकता है। महान् योगियों के पदचिन्हों पर चल कर दिखावे, झूठा गर्व तथा अन्य मानसिक असन्तुलन पर विजय पाई जा सकती है।

केचिद्देहमिमं धीराः सुकल्पं वयसि स्थिरम् ।

विधाय विविधोपायैरथ युञ्जन्ति सिद्धये ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

केचित्—कुछ; देहम्—शरीर को; इमम्—इस; धीराः—आत्मसंयमी; सु-कल्पम्—उपयुक्त; वयसि—युवावस्था में; स्थिरम्—स्थिर; विधाय—बनाकर; विविध—विविध; उपायैः—उपायों से; अथ—इस प्रकार; युञ्जन्ति—लगाते हैं; सिद्धये—भौतिक सिद्धि पाने के लिए।

कुछ योगीजन विविध उपायों से शरीर को रोग तथा वृद्धावस्था से मुक्त कर लेते हैं और उसे शाश्वत तरुण बनाये रखते हैं। इस तरह वे भौतिक योग-सिद्धियाँ पाने के उद्देश्य से योग में प्रवृत्त होते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर वर्णित विधि मनुष्य की भौतिक इच्छाओं की पूर्ति के निमित्त है, उसे दिव्य ज्ञान के पद तक ले जाने के लिए नहीं है। इसलिए श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार इस विधि को भगवान् की भक्ति नहीं स्वीकार किया जा सकता। ऐसी समस्त योग-सिद्धियों के बावजूद भौतिक शरीर अन्ततः मरता है। वास्तविक शाश्वत तारुण्य तथा सुख तो केवल कृष्णभावनामृत के आध्यात्मिक पद पर ही उपलब्ध हैं।

न हि तत्कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः ।

अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पतेः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; तत्—वह; कुशल—दिव्य ज्ञान में जो कुशल हैं उनके द्वारा; आदृत्यम्—आदरित होने को; तत्—उसका; आयासः—प्रयास; हि—निश्चय ही; अपार्थकः—व्यर्थ; अन्त-वत्त्वात्—विनष्ट होने के कारण; शरीरस्य—जहाँ तक भौतिक शरीर की बात है; फलस्य—फल का; इव—सदृश; वनस्पतेः—वृक्ष के।

जो लोग दिव्य ज्ञान में पटु हैं, वे इस योग की शारीरिक सिद्धि को अत्यधिक महत्त्व नहीं देते। निस्सन्देह, वे ऐसी सिद्धि के लिए किये गये प्रयास को व्यर्थ मानते हैं क्योंकि आत्मा तो वृक्ष के सदृश स्थायी है किन्तु शरीर वृक्ष के फल की तरह विनाशशील है।

तात्पर्य : यहाँ पर एक वृक्ष का उदाहरण दिया गया है, जिसमें ऋतु आने पर फल लगते हैं। फल अल्पकाल तक रहते हैं किन्तु वृक्ष हजारों साल तक रह सकता है। इसी तरह आत्मा शाश्वत है, जबकि भौतिक शरीर, यहाँ तक कि सुरक्षित किये जाने पर भी, तेजी से विनष्ट हो जाता है। शरीर की तुलना कभी भी नित्य विद्यमान आत्मा से नहीं करनी चाहिए। जो लोग सचमुच बुद्धिमान हैं और जिन्हें आध्यात्मिक ज्ञान है, वे भौतिक योग-सिद्धियों में रुचि नहीं लेते।

योगं निषेवतो नित्यं कायश्चेत्कल्पतामियात् ।

तच्छ्रद्दध्यान्न मतिमान्योगमुत्सृज्य मत्परः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

योगम्—योगाभ्यास; निषेवतः—सम्पन्न करने वाले का; नित्यम्—नियमित रूप से; कायः—भौतिक शरीर; चेत्—कदाचित्; कल्पताम्—स्वस्थता; इयात्—प्राप्त करता है; तत्—उसमें; श्रद्दध्यात्—श्रद्धा करता है; न—नहीं; मति-मान्—बुद्धिमान; योगम्—योग-प्रणाली; उत्सृज्य—त्याग कर; मत्-परः—मुझे समर्पित भक्त ।

यद्यपि योग की विभिन्न विधियों से शरीर सुधर सकता है, किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति, जिसने अपना जीवन मुझे समर्पित कर दिया है योग के द्वारा शरीर को पूर्ण बनाने पर अपनी श्रद्धा नहीं दिखलाता और वास्तव में वह ऐसी विधियों को त्याग देता है।

तात्पर्य : कृष्ण-भक्त पोषणयुक्त कृष्ण-प्रसादम् खाकर, शुद्ध और नियमित जीवन बिताकर, व्यर्थ की चिन्ता से मुक्त रह कर तथा भगवान् के अर्चाविग्रह के समक्ष कीर्तन और नृत्य करके, अपने शरीर को स्वस्थ रखता है। बीमार होने पर भक्त सामान्य विधियों से ओषधीय उपचार करता है किन्तु इसके आगे, तथाकथित योगाभ्यास के नाम पर शरीर में अपने मन को लगाये रखने की उसे आवश्यकता नहीं पड़ती। अन्ततः मनुष्य को भगवान् द्वारा निर्धारित भाग्य को स्वीकार करना चाहिए।

योगचर्यामिमां योगी विचरन्मदपाश्रयः ।

नान्तरायैर्विहन्येत निःस्पृहः स्वसुखानुभूः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

योग-चर्याम्—योग की संस्तुत विधि; इमाम्—यह; योगी—अभ्यास करने वाला; विचरन्—सम्पन्न करते हुए; मत्-
अपाश्रयः—मेरी शरण ग्रहण करके; न—नहीं; अन्तरायैः—व्यवधानों से; विहन्येत—रोका जाता है; निःस्पृहः—लालसा से
मुक्त; स्व—आत्मा का; सुख—सुख; अनुभूः—भीतर ही भीतर अनुभव करते हुए।

जिस योगी ने मेरी शरण ग्रहण कर ली है, वह लालसा से मुक्त रहता है क्योंकि वह भीतर ही भीतर आत्मा के सुख का अनुभव करता है। इस तरह इस योग-विधि को सम्पन्न करते हुए वह कभी विघ्न-बाधाओं से पराजित नहीं होता।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार भगवान् ने उद्धव को सारे उपनिषदों का आवश्यक ज्ञान संक्षेप में कह सुनाया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भगवान् की शुद्ध भक्ति ही चरम मोक्ष का असली साधन है। इस सम्बन्ध में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बल देकर कहते हैं कि यद्यपि *हठयोगी* तथा *राजयोगी* अपने नियत मार्गों पर उन्नति करने का प्रयास करते हैं किन्तु उन्हें विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ता है और वे प्रायः मनवांछित लक्ष्य प्राप्त नहीं कर पाते। किन्तु जो भगवान् की शरण में चला जाता है, वह भगवद्धाम जाने के आध्यात्मिक पथ पर निश्चय ही विजयी होगा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के “ज्ञान-योग” नामक अष्टादशवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।